

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अपनिषद्

वेदान्त

४६

R65,0
152L9
संक्षिप्तं च इदं सर्वं,
एतन्मन्त्रं जगत्सु जगत्।
तेन त्वत्कर्म भुञ्जीथाः
मा गृधः कस्यम्विदुतम्।



३

१६२८

R65,0

१८२४

चाँद)

१७२४

[illegible]

समक्ष भवत् वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी ।

उपनिषद्

उपनिषदों का सरल-सुबोध
अनुशीलन

मूल लेखक

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अनुवादक

सीताचरण दीक्षित

मुमुक्षु भवन वेद वेदांग विद्यालय

ग्रन्थालय

आंगण क्रमांक... ६४३...

दिनांक.....

१९७६

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन



R65.0
152 L9

❀ मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀

वाराणसी ।

आगत क्रमांक..... 1984.....

दिनांक.....

प्रकाशक

यशपाल जैन

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

•

पहली बार : १९७६

मूल्य : रु० २.५०

•

मुद्रक

अंकित प्रिंटिंग प्रेस

रोहतास नगर, दाहदरा

दिल्ली-३२

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने बड़ी ही सरल-सुबोध भाषाशैली में उपनिषदों का सार दिया है। लेखक का सम्पूर्ण साहित्य मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनने की प्रेरणा देता है। वही प्रेरणा इस पुस्तक के द्वारा मिलती है।

राजाजी ने बहुत-कुछ लिखा है। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, उपनिषद आदि के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी अनुपम शैली में अत्यन्त मूल्यवान विचार दिये हैं। लेखक के विचार बहुत ही सुलभ हुए हैं। अतः उनकी कृतियों में जहाँ विचारों की स्पष्टता है, वहाँ प्रवाह भी खूब है। सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी उनसे लाभ उठा सकते हैं। उनकी लगभग सभी पुस्तकें 'मंडल' ने हिन्दी में प्रकाशित की हैं।

राजाजी के जन्म-शताब्दी वर्ष में उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धांजलि यही होगी कि हम उनकी पुस्तकों को पढ़ें और उनके विचारों को हृदयंगम करके अपने जीवन में उतारें।

—मंत्री

अनुक्रम



प्रारम्भिक	५
१. कठोपनिषद्	६
२. ईशावास्योपनिषद्	२४
३. केनोपनिषद्	२६
४. श्वेताश्वतरोपनिषद्	३५
५. तैत्तिरीयोपनिषद्	४२
६. छान्दोग्योपनिषद्	४५
७. मुण्डकोपनिषद्	४६
उद्धृत श्लोकों की निर्देशिका	६१



प्रारम्भिक

उपनिषद् हमारे ऐसे धर्मग्रन्थ हैं, जिनमें आध्यात्मिक जिज्ञासा के विषय में संसार के सब धर्मग्रन्थों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक भावना परिलक्षित होती है। जिन ऋषियों के विचार और उपदेश उनमें निहित हैं, वे आधुनिक युग के अधिकांश वैज्ञानिकों की भांति ही रचनात्मक शंकाओं से प्रेरित दिखलाई पड़ते हैं। उनके प्रश्नों और उत्तरों से मालूम होता है कि वे एक ऐसे काल में हुए जब, पारंपर्य और पुरातन आचार-विचारों के दृढ़ अनुसरण के साथ-साथ, मनुष्य परम सत्य के जिज्ञासु रहते थे और वातावरण अत्यन्त साहसपूर्ण स्वतन्त्र विचारों से परिपूर्ण था।

विज्ञान और स्वतंत्र विचारों का इतना विकास हो जाने पर भी आज हमारे बीच जिस परम्परा का प्राबल्य है, वह हमें भ्रान्त नहीं करता। हम उससे परिचित हैं और पुरातन आचार-विचारों तथा वर्तमान संशयवादिता के द्वंद्वात्मक तत्वों को समझने और उनका सच्चा मूल्य निर्धारित करने में हमें किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। परन्तु सहस्रों वर्षों की परंपरा बहुत भिन्न वस्तु है। यदि हम उसे समझते हैं तो उसके वास्तविक रूप से बहुत कम परिचित हैं और इसलिए चित्र धुंधला

हो जाता है। कदाचित्, इसी कारण से, हम उन ऋषियों के मन और जीवन को नियंत्रित करनेवाली जिज्ञासा-वृत्ति की उचित सराहना न कर सकें, जिनकी शिक्षाएं उपनिषदों में संग्रहीत हैं। उनकी वह भावना इन महान धर्मग्रंथों की प्रत्येक पंक्ति में प्रतिबिम्बित है।

यदि हम काल-व्यवधान के लिए उचित अवकाश छोड़ना सीख लें, हममें बहुमूल्य पुरातन सम्पर्कयुक्त धर्मग्रंथों का उपयोग करने तथा उनसे लाभ उठाने के लिए पर्याप्त ज्ञान और मानसिक बलनशीलता हो और असंबद्धता तथा अतीतकाल की भूमिका को निकाल देने के लिए मूल पाठ को काटने-छांटने तथा उसका संशोधन करने की आवश्यकता न पड़े, तो आधुनिक युग के लिए उपनिषदों से अच्छे धर्मग्रंथ प्राप्त नहीं हो सकते। उत्कट सत्यतृषा से प्रेरित होकर जिस विशाल कल्पना, भव्य विचार-प्रवाह और अनुसंधान की अदम्यप्राय भावना से उपनिषदों के गुरु और शिष्यों ने जगत् के 'प्रकट रहस्य' का अवगाहन किया है, उसके कारण संसार के धर्मग्रंथों में सबसे प्राचीन उपनिषद् अब भी सबसे आधुनिक और सबसे अधिक सन्तोषजनक बने हुए हैं। सम्भव है कि उपनिषद् शिष्यों की स्मरण-शक्ति को सहायता पहुंचाने के लिए मूलतः प्रवचनों की टिप्पणियों के रूप में रचे गए हों। वे वर्तमान पुस्तकों के समान दर्शनशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों के रूप में नहीं रचे गये थे।

हमारे युग में टिप्पणियां छोटे-छोटे संकेतात्मक वाक्यांशों में लिखा दी जाती हैं, या विद्यार्थी स्वयं लिख लेते हैं। परन्तु प्राचीनकाल में उन्हें कंठस्थ कर लेने के लिए पद्य में तैयार किया जाता था, क्योंकि उस समय ज्ञानार्जन में लेखन का

उपयोग आज से कम होता था। आज जब वह छपे हुए तथा आवरण-पृष्ठ, विषय-सूची और निर्देशिका आदि से पूर्ण रूप में हमारे समक्ष रखे जाते हैं तो सरल दीखनेवाली भाषा और अस्पष्ट विचारों के कारण, कई स्थानों पर हमें उलझन में डाल देते हैं। गुरु से पृथक् होने के कारण और वैयक्तिक, वार्तिक तथा भाष्य के अभाव में ये रचनाएं अपने विरोधी विचारों, सूक्तों और एक ही शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग से हमें अनेक प्रसंगों पर भ्रम में डाल देती हैं। यह शैली ऐसी है, जिससे कठिन समस्याओं के विचार-विमर्श में हमें विशेष रूप से वचना चाहिए था ; परन्तु यदि हम स्मरण रखें कि उपनिषद् गुरु का स्थान लेने वाले ग्रन्थ नहीं, वरन् उपदेशों को समझने और स्मरणशक्ति को सहायता पहुंचाने के लिए टिप्पणियां मात्र हैं, तो यह सबकुछ समझ में आ जायेगा।

आधुनिक पुस्तकों की रचना के हेतु से उपनिषदों की रचना के हेतु के अन्तर और, उनके रूप से उत्पन्न होने वाली कठिनाताओं के अतिरिक्त, इन विचारों के प्रतिपादन-काल की दूरी हमारे सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाता प्रस्तुत करती है। स्वभावतः ही वह विचार उन प्राचीन युगों के जीवन, विश्वासों और आचार-विचार से संलग्न हैं। सुदूर अतीत के ऋषियों ने जो कुछ कहा है, उसका अर्थ और संकेत समझने के लिए हमें उस युग की परिस्थितियों को समझना होगा। यह कार्य हममें सबसे अधिक कल्पनाशील के लिए भी बहुत कठिन है। जो विश्वास और व्यवहार हमारे लिए आज क्षुद्र हैं, वही उस समय के जीवन का व्यापक और मुख्य आधार थे। उस काल के सर्वश्रेष्ठ और सबसे ज्ञानी पुरुषों के विचारों को, जो स्वभावतः

ही उनके दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले और उसी की पीठ-भूमिका पर आधारित हैं, उस भूमिका से पृथक् करके समझना होगा। उनके लिए जो अत्यन्त सत्य और गंभीर था, वह हमारे लिए क्षुद्र, असामयिक और व्यर्थ है; अतएव उस पर किये गए विचार भी समझ में न आने योग्य बन जाते हैं। चित्र को उसके आधार से अलग करके देखने की पद्धति सरल नहीं है। सम्बद्ध विश्वासों और व्यवहारों की जो प्रतिक्रिया हमारे मन पर होती है, उसमें हम अपने आपको खो देते हैं और सांयोगिक वस्तुओं के भ्रमजाल में फँसकर मूल वस्तु को ग्रहण नहीं कर पाते।

उपनिषदों का अध्ययन करने में कर्मकाण्ड, यज्ञ, देवताओं की पूजा तथा इन सबकी व्यर्थता-अव्यर्थता का उल्लेख बार-बार आता है। इसके गम्भीरतर और मुख्य जिज्ञासा में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। हिन्दू धर्म में अब भी उन विश्वासों और व्यवहारों के बाह्य रूप पर जो औपचारिक आग्रह किया जाता है। उससे हिन्दू पाठकों की स्थिति और भी विषम हो जाती है, उपनिषदों का सार निकालने और उसका मूल्यांकन करने के लिए हमें ऐसी प्रबल कल्पनाशक्ति और बौद्धिक वलन-शीलता की आवश्यकता है, जो आधुनिक जीवन के विश्वासों, महत्वाकांक्षाओं और मानसिक गठन को विलग करनेवाले भारी व्यवधान का अतिक्रमण कर सके। बड़े उपनिषदों के पूर्ण पाठों का अध्ययन हिन्दू धर्म के आचार्यों के मानस् को समझने का सर्वश्रेष्ठ साधन होगा। परन्तु इन्हीं बड़े उपनिषदों में उपर्युक्त कठिनाताएँ सबसे बड़ा रूप धारण करती हैं। आगामी अध्यायों में उपनिषदों के तत्त्व की पर्याप्त कल्पना देने के मुख्य उद्देश्य को अक्षुण्ण रख कर इन कठिनाताओं को अल्पतम कर देने का प्रयत्न किया गया है।

१/कठोपनिषद्

कुरुक्षेत्र का वह महान प्रसंग, भगवद्गीता का पूर्वरंग, जिसमें अनुताप और संशय का मारा महारथी अर्जुन मार्गदर्शन के लिए अपने दिव्य सारथी की शरण लेता है, प्रत्येक हिन्दू को ज्ञात है। कठ उपनिषद् भी उसी प्रकार की भव्य प्रस्तावना से प्रारम्भ होता है, जो उसकी महान शिक्षा के लिए एक उदात्त पीठभूमिका प्रस्तुत करती है।

वाजश्रवा ने एक महायज्ञ किया, जिसका अन्त एकत्र अतिथियों को सर्वस्व दक्षिणा में दे देने से हुआ। वाजश्रवा का पुत्र नचिकेता यह सब विधिक्रम देख रहा था और जब उसने दक्षिणा दी जाती हुई देखी तो उसका हृदय उस सबकी व्यर्थता के विचार से भर गया।

उसने मन में सोचा, “इन दन्तहीन, वृद्ध पशुओं और दुग्धदोहा गौओं के दान से क्या लाभ ? यदि मेरे पिता अपनी प्रिय वस्तुओं का दान करना चाहते हैं तो क्या उन्हें मेरा दान नहीं कर देना चाहिए ?” इसलिए वह अपने पिता के पास गया और बोला, “पिता, आप मेरा दान किसे करेंगे ?” उसके पिता ने प्रश्न पर कोई ध्यान नहीं दिया और वह अपने महा-

यज्ञ की विधि पूर्ण करते रहे। नचिकेता ने प्रश्न को बार-बार दुहराया। अन्त में वाजश्रवा धैर्य खोकर बोल उठे, “तुम्हें ? तुम्हें मैं यमराज को दूंगा।” इन शब्दों का वाच्यार्थ उसके मन में नहीं था।

ऐसे पवित्र अवसर पर केवल वही शब्द कहे जा सकते थे, जो पूरे किये जायें। पिता अपने आवेश से स्तब्ध हो गये। फिर भी नचिकेता ने तो यमराज के पास जाने का निश्चय ही कर लिया। “मेरे पहले अनेक गये हैं और मेरे पश्चात् भी बहुत लोगों को जाना पड़ेगा ही; मैं अकेला यमराज के पास नहीं जा रहा हूँ; और यमराज मेरा कर भी क्या सकते हैं ? सोचो, इसके पहले क्या हुआ है और भविष्य में क्या होने-वाला है। इसके पूर्व मरे हुए मर्त्य असंख्य हैं और आगे भी अगणित लोग मरेंगे ही। मर्त्यों का जीवन उस सत्य के समान है, जो उगता है, पकता है और काट लिया जाता है; और वह उस धान्य के समान है, जो गिर जाने पर पुनर्जीवित हो जाता है।”

बहूनामेभि प्रथमो बहूनामेभि मध्यमः ।

किं वृत्स्विर्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥ (१)—५

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ (१)—६

इस प्रकार नचिकेता यमराज के पास गया। यमराज इस स्वयंभू अतिथि को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। वह किसी को भी समय के पूर्व आने नहीं देना चाहते थे। यमराज से साक्षात् होने के पूर्व नचिकेता को तीन दिन तक ठहरना पड़ा। ब्राह्मण की उपेक्षा यमराज भी नहीं कर सकते थे।

इसलिए अपने अपराध की निवृत्ति के लिए उन्होंने नचिकेता को मुंहमांगा वरदान देने का वचन दिया। उन्होंने दीर्घायुष्य, विश्व की समस्त सम्पदा और उसके पश्चात् स्वर्गप्राप्ति आदि के अनेक वरदान देने चाहे; परन्तु नचिकेता ने उनसे आत्मतत्त्व की शिक्षा की याचना की।

नचिकेता ने कहा, "इस ज्ञान के वर से भिन्न मैं कोई वर नहीं चाहता, और इसकी शिक्षा देने के लिए आपसे अधिक अच्छा गुरु कौन है? जबतक आप सबका अन्त करने के लिए उपस्थित हैं, तबतक आयुष्य-वृद्धि से क्या लाभ? और संपत्ति, संगीत, नृत्य, अश्वों और रथों से क्या आनन्द प्राप्त हो सकता है?"

यमराज ने नचिकेता को समझाया :

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा

न हि सुज्ञेयमगुरेष धर्मः।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व

मा मोपरोत्सीरति मा सृजेनम् ॥ (१)—२१

—देवताओं को भी इस विषय में संदेह हुआ था। आत्मा का तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि उसे संतोषजनक रीति से समझना असंभव है। नचिकेता, कोई अन्य वर मांग लो। इस पर आग्रह मत करो। इससे मुझे मुक्त कर दो।

परन्तु नचिकेता ने उत्तर दिया :

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल

त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्म ॥

वक्ता चास्य त्वावृगन्यो न लभ्यो

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ (१)—२२

—आप कहते हैं कि देवताओं को भी इस विषय में संदेह हुआ था और यह सरलता से समझा भी नहीं जा सकता; तो, हे यमराज ! इसे आप जैसा समझानेवाला और कौन हो सकता है ? और, दूसरा कौन-सा वर इसकी बरावरी कर सकता है ? वस्तुतः कोई भी नहीं ।

यम ने फिर समझाया :

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व

बह्वन्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व

स्वयं च जीव शरदो यावद्विच्छसि ॥ (१)—२३

—सैकड़ों वर्षों की आयुवाले पुत्र-पौत्र मांगो। बहुत-सी गायें, हाथी, सुवर्ण और अश्व मांग लो। भूमि के विस्तृत क्षेत्र मांगो और जितने वर्ष चाहो, जीवित रहो।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं

वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि

कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ (१)—२४

—अथवा, सम्पत्ति और दीर्घायुष्य के साथ-साथ, इसके तुल्य जो दूसरा वर समझो वह मांग लो। हे नचिकेता, तुम विस्तृत देश के सम्राट बनो; मैं तुम्हें सब कामनाओं का भोग करने के योग्य बना दूंगा।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके

सर्वान्कामान्दधन्वतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सत्पूया

नहीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रतामिः परिचारयस्व

नचिकेतो ! मरणं मानुप्राप्सीः ॥ (१)—२५

—मर्त्यलोक में दुर्लभ कोई भी भोग इच्छानुसार मांग लो । रथ पर बैठी और मुरली-वादन करती हुई इन अप्सराओं को ले लो । मनुष्यों ने इनके समान अप्सराएं कभी नहीं देखीं । मेरी आज्ञा से ये तुम्हारी सेवा करेंगी । परन्तु मुझसे मृत्यु के विषय में मत पूछो ।

नचिकेता अटल रहा । उसने कहा :

इवोभावा मर्त्यस्य यदन्तर्कैतत्-

सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव

तवैव बाहास्तव नृत्यगीते ॥ (१)—२६

—हे यमराज ! ये क्षणभंगुर सुख मर्त्यों की इन्द्रिय-शक्ति को क्षीण कर देते हैं । यदि यह जीवन भर सुलभ रहें तो भी अल्प ही हैं । आप इन रथों, गीतों और नृत्यों का सुख-भोग मुझे देने को कहते हैं, परन्तु यद्यपि आप इन्हें देते हुए दिखलाई पड़ते हैं, फिर भी भोक्ता के मृत्यु से मर्यादित होने के कारण ये आपके पास ही रहते हैं ?

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो

लप्स्यामहे वित्तमब्राह्म चेत् त्वा ।

जीविष्यामो यावदीक्षिष्यसि त्वं

वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ (१)—२७

१. शंकराचार्य ने “तवैव बाहाः” आदि का भाष्य केवल यह किया है—‘ये सब क्षणभंगुर सुख आप अपने ही पास रखिए; मुझे इनकी परवा नहीं ।’

—मनुष्य को धन से सन्तोष कैसे हो सकता है ? मरने पर क्या हम धन साथ ले जा सकते हैं ? हम उतने ही दिन जीते हैं, जितने दिन आपको इच्छा होती है । इसलिए जो वर मैंने मांगा है, वही मांगने के योग्य है ।

इस प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक सुखों का लोभ दिखाकर भी यमराज नचिकेता को जीवन का रहस्य जानने के आग्रह से विरत करने में सफल न हुए । उन्होंने कहा, “तुमने साहस और दृढ़ निश्चय का परिचय दिया है । तुमसे अच्छा जिज्ञासु कोई नहीं हो सकता, जैसा कि, तुम्हारे कथनानुसार, मुझसे अच्छा गुरु कोई नहीं हो सकता । अब तुम सुनो, मैं तुम्हें बताऊंगा ।”

इसके पश्चात् शिक्षा का आरम्भ हुआ ।

सत्य की खोज में मनुष्य को सर्वप्रथम यह ज्ञान होना चाहिए कि प्रेय से श्रेय भिन्न है । इसलिए यम ने इस प्रकार अपनी शिक्षा प्रारम्भ की :

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद् य ज प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ
संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ (२)—१, २

१. शंकराचार्य ने “योगक्षेमात्,” का अर्थ “शरीर के पोषणार्थ” किया है । व्याकरण की किञ्चित् उपेक्षा से इसका अर्थ कदाचित् यह भी हो सकता है, “सुख का मूल प्राप्त करने और सुरक्षित रखने की आशा से ।”

—श्रेय एक वस्तु है, प्रेय दूसरी। यह दोनों मनुष्य को बहुत भिन्न लक्ष्यों पर पहुंचाते हैं। जो श्रेय का वरण करता है, वह सुख प्राप्त करता है, जो प्रेय को पसंद करता है वह सदैव अपना अभीष्ट खोता रहता है। ज्ञानी लोग प्रेय के आकर्षण से धोखे में नहीं पड़ते। वे श्रेय का वरण करते हैं। मूर्ख लोग केवल प्रेय के जाल में फंसकर नष्ट हो जाते हैं।

अविद्यायामन्तरे

वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।

दन्द्रन्ममाणाः परियन्ति मुदा

अन्वेनेव नीयमाना यथान्धाः ॥ (२)—५

—अज्ञान में डूबे हुए मनुष्य कर्म और प्रयत्नों में प्रवृत्त रहते हैं और अपने को विद्वान तथा बुद्धिमान मानकर नाना जन्मों के चक्र में घूमते हुए ठीक वैसे ही निरुद्देश्य भटकते फिरते हैं, जैसे अन्धों द्वारा नीयमान अन्वे ।

उच्चतर जीवन की साधना करनेवाले मनुष्य के मार्ग में प्रमुख बाधा यह है कि मनुष्य अपने आत्मा और शरीर को एक मानता है। इसलिए वेदान्त की समस्त शिक्षा अन्तःस्थित आत्मा के साक्षात्कार पर जोर देती है। अन्तःस्थित; शाश्वत आत्मा की दिव्यता की अनुभूति हो जाने पर विजय प्राप्त हो जाती है।

तं बुवंशं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकी जहाति ॥ (२)—१२

—अन्तःस्थित परमात्मा में मन को एकाग्र करके मनुष्य को अपने आत्मा की दिव्यता और स्वतःसिद्ध स्वतंत्रता का अनुभव कर लेना चाहिए। सुख-दुःखादि द्वंद्व और सांसारिक

विषयों में आसक्ति के कारण अन्तःस्थित आत्मा पहचाना नहीं जाता। जब मनुष्य अपने अन्तर्निवासी परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब सुख और दुःख की समस्त आंति मिट जाती है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः—
तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात् ॥ (२)-२३, २४

—यह साक्षात्कार तभी हो सकता जब मनुष्य के हृदय के अन्दर से निश्चय की पवित्रता और भाव की सच्चाई प्रस्रवित हो। वह अध्ययन अथवा विद्वत्तापूर्ण तर्क-वितर्क से संभव नहीं है। साक्षात्कार उसे ही हो सकता है, जिसका अन्त-रात्मा उसके लिए व्याकुल हो उठता है और जिसके मन ने बुराईयों से मुख मोड़ लिया है और अपने-आपको वश में रखना तथा सांसारिक संघर्षों में सम रहना सीख लिया है।

दूसरे शब्दों में, साक्षात्कार अनासक्ति में प्रवृत्त करनेवाली आकुलता से प्राप्त होता है, बहुत विद्वत्ता से नहीं। अर्थात्, वह हमारे अन्तःकरण में निवास करनेवाले परमात्मा की कृपा से प्राप्त होता है।

आत्मा परिवर्तनशील शरीर से भिन्न है। वह मन को प्रक्षुब्ध करनेवाले भय और मनोविकारों से भी भिन्न है। आत्मा दिव्यतामूलक है। जिस मन में वह परिवृत्त है, उसके गुणों से उसमें विकार उत्पन्न नहीं होता। उसकी ही आन्तरिक

दिव्यता की अनुभूति के द्वारा उसे इन गुणों के जाल से मुक्त किया जा सकता है।

यद्यपि यहां नचिकेता को आत्मवेदना के बिना युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए समझाने का कोई प्रश्न नहीं है, तथापि पाठक देखेंगे कि निम्नलिखित श्लोक गीता के तद्विषयक श्लोकों से लगभग पूर्णतया मिलते हैं :

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्
नायं कृतश्चिन्त वभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (२)-१८

—तुम न जन्म लेते हो, न मरते ही हो। तुम किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हुए, न अपने से भिन्न किसी उपादान से बने हो। तुम अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सनातन हो। शरीर के नाश किये जाने पर भी तुम्हारा नाश नहीं होता।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (२)-१९

—यदि तुम मानते हो कि तुम किसी को मारते हो या किसी के द्वारा मारे जाओगे तो इन दोनों ही बातों में गलती करते हो। आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ (२)-२०

—अणु से भी सूक्ष्म और महत्तम से भी महत् आत्मा सब प्राणियों के हृदयों में निवास करता है। जो कामनारहित हो जाता है और जिसने शोक का परित्याग कर दिया है वह अपने

अन्तस् में स्थित आत्मा की महानता को देखता है ।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (२)-२१

—ज्ञानी मनुष्य शरीरों में स्थित इस अ-शरीर आत्मा का नश्वर में स्थित इस अनश्वर तत्व का अनुभव करता है, और अनुभव करके शोक को त्याग देता है ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवस्थानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।

सोऽध्वनः पारमानोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ (३)-३, ४, ५, ६

—इंद्रियों पर सतर्कता से नियंत्रण रखने पर ही जीवन-यात्रा कुशलता पूर्वक समाप्त की जा सकती है और विष्णु का परलोक प्राप्त किया जा सकता है । शरीर रथ के समान है, जिसमें इंद्रियां घोड़ों के समान जुती हुई हैं । मन लगाम के समान है, जो सारथी (अर्थात् बुद्धि) को घोड़ों (अर्थात् इंद्रियों) पर नियंत्रण रखने में समर्थ बनाती है । आत्मा रथी है और इंद्रियों के विषयों का जगत् रथ का मार्ग है । यदि लगाम को ढूढ़ता और बुद्धिमत्तापूर्वक खींचकर न रखा गया तो इंद्रियां दुष्ट घोड़ों के समान नियंत्रण से बाहर हो जायेंगी तथा रथ अपने लक्ष्य पर न पहुंचेगा और रथी जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्र में भटकता फिरेगा । यदि मनुष्य बुद्धिमान है और अपने मन को वश में रखता है तो उसकी इंद्रियां अच्छे सारथी द्वारा प्रचालित अच्छे घोड़ों के समान रहेंगी ।

परांवि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः
 तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
 कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैकदा-
 वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
 पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
 मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
 अथ धीरा - अमृतत्वं विदित्वा
 ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्राथयन्ते ॥ (४)-१,२

—स्वयंभू आत्मा बाहर की ओर प्रवृत्त रहता है; इसलिए मन के द्वार अर्थात् इन्द्रियां भी वहिर्मुख हैं। इसीलिए मनुष्यों के विचारों का रुख सदा बाहर की ओर रहता है। परन्तु वह थोड़े से मनुष्य, जिन्हें सच्चा ज्ञान है, अपने मन को अन्तर्मुख रखते हैं और अपने अन्तःस्थित आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। जो अज्ञानी पुरुष आत्मनिग्रह नहीं करते और बाहरी सुखों के पीछे दौड़ते हैं, वे जन्म-मरण के विस्तृत जाल में फंस जाते हैं। स्थिर चित्तवाले मनुष्य यह अनुभव करके कि क्या स्थायी है, अपने विचारों को अनित्य सुखों की ओर नहीं मुड़ने देते।

अरण्योर्निहितो जातवेदा
 गर्भं इव सुभृतो गर्मिणीभिः ।
 दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिः
 मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ॥
 अग्निरयंको भुवनं प्रविष्टो
 रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
 रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (४)—८, (५)—९

—जिस प्रकार माता के गर्भ में बालक छिपा रहता है । उसी प्रकार पवित्र अग्नि अरणियों में छिपी रहती है । अरणियों की अग्नि के समान ही आत्मा शरीर में छिपा रहता है । प्रकट अग्नि जलनेवाले पदार्थ के अनुरूप ही आकार ग्रहण करती है । जिसमें वह प्रत्यक्ष होती है, उसके अनुरूप कभी दीपक की लौ, कभी भट्टी की अग्नि और कभी दावानल का रूप ग्रहण करती है । स्वयं अग्नि एक ही है । इसी प्रकार, आत्मा यद्यपि अनेक शरीरों में स्थित रहता है, वह वही नहीं है जो अपने सम्बद्ध अधिष्ठान में प्रतिभासित होता है ।

यदेवेद तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ (४)—१०, ११

—जो-कुछ यहां है, वह वहां है; जो-कुछ वहां है, वह यहां है, अर्थात्, वस्तुएं और प्राणी अनेक दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में वे सब एक ही परमात्मा हैं । जब हम इस एकता का अनुभव कर लेते हैं, तब मुक्त हो जाते हैं । यदि हम भिन्नता देखते हैं तो मृत्यु से मृत्यु में भटकते रहते हैं । मन ही ज्ञान के द्वारा इस भिन्नता के भाव पर विजय प्राप्त करके सब की परम एकता का दर्शन कर सकता है ।

यथोदकं दुर्गे दृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥

यथोदकं शुद्धेशुद्धमासितं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ (४)—१४, १५

पर्वत-शिखर पर बरसनेवाला जल अनेक धाराओं में

विभाजित होकर पर्वत की चारों दिशाओं में बहता है। अज्ञानी मनुष्य प्राणियों को अनेक रूपों में देखता है और भ्रान्त हो जाता है तथा अनेक रूपों के पीछे दौड़ता है। पानी में डाला हुआ पानी उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। यही बात ज्ञानी के आत्मा के सम्बन्ध में भी है, जो अनेक रूपों में एक रूप के दर्शन करता है।

—हमें देखने का वास्तविक सामर्थ्य देनेवाला अन्तःस्थित आत्मा है, न कि बाहर से फैलनेवाला प्रकाश। यह अन्तःस्थित आत्मा अपने ही प्रकाश से प्रदीप्त होता है, या किसी अन्य, अर्थात् परमात्मा के प्रकाश से प्रदीप्त होता है? वह स्वयं प्रकाशमान आत्मा है अथवा या वह एकमेव प्रकाशमान तत्त्व—परमात्मा का प्रतिबिम्ब है? इसी दिव्य शंका के साथ कठोपनिषद् की पांचवीं वल्ली समाप्त होती है। निम्नलिखित दो श्लोक एक साथ पढ़ना चाहिए :

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।

कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ (५)—१४

—वे कहते हैं कि मेरे अन्तस् में स्थित अनिर्वचनीय आत्मा ही परम सुख का भाव है। मैं कैसे समझ सकता हूँ कि मेरे अन्तस् में स्थित आत्मा स्वयं ही प्रकाशमान है अथवा विश्व-व्यापी आत्मा की प्रतिबिम्बित ज्योति से प्रदीप्त रहता है?

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिव विभाति ॥ (५)—१५

—वहाँ न तो सूर्य प्रकाश पहुंचाता है, न चन्द्र, न तारा-

गण, न मेघजन्य विद्युत् ही; और फिर इस यज्ञ की आग्नि का तो बात ही क्या ? परम ज्योति प्रकाशित रहती है और उसी से अन्य सब वस्तुएं प्रकाशमान होती हैं । जगत् की प्रत्येक वस्तु उसी एक ज्योति से प्रतिबिम्बित होती है ।'

—भ्रम के जाल से छूटने के लिए केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है । श्रद्धा और जीवन में अनुशासन आवश्यक हैं । भ्रम अज्ञान से इतना उत्पन्न नहीं होता है, जितना कि आसक्तियों से । ज्ञान अनासक्ति से उत्पन्न होता है, विद्वत्ता से नहीं । यही मुख्य शिक्षा है, जिस पर हिन्दू दर्शन के सब मत अन्ततः लौटते और सबसे अधिक जोर देते हैं । सांसारिक विषयों की आसक्ति से निवृत्त होने में अनुशासन और ध्यान से सहायता मिलती है । उन्हें ही योग कहा जाता है ।

यदा सर्वे प्रमिच्छन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ (६) — १५

—जब हृदय की ग्रंथियां खुल जाती हैं और मनुष्य सांसारिक आसक्तियों से रहित हो जाता है तब वह अमरत्व प्राप्त करता है । यही सम्पूर्ण शिक्षा है ।

अन्तरात्मा हमारे हृदय की गुप्त गुहा में स्थित है । वह उसी प्रकार आच्छादित रहता है, जैसे कि नरकट का पौधा अपने पत्तों से आच्छादित रहता है । हमें ज्ञान के साथ कामनाओं तथा आसक्तियों से मुक्त होकर और मिश्र से शुद्ध को

१. मैं विद्वानों से क्षमाप्रार्थी हूं कि मैंने इन दोनों श्लोकों का अर्थ प्रचलित अर्थ से भिन्न किया है । मेरे इस अर्थ का आधार 'माति' और 'विमाति' का सान्निध्य है ।

पृथक् करके, आत्मा को उस आच्छादन से अलग करना चाहिए। अन्तःस्थित आत्मा पवित्र और अमर है। इस उपनिषद् में यम की शिक्षा इस प्रकार समाप्त होती है :

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः

तं स्वाच्छरीरात्प्रबृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥

तं विद्याच्छुक्रममृतं, तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥(६)—१७

अंगुष्ठ के परिमाण का आत्मा मनुष्यों के हृदय में सदा सन्निविष्ट रहता है। उसे ज्ञान के द्वारा शरीर के आवरण से पृथक् कर। वह विशुद्ध और मृत्युरहित है—यह जानो।

२/ईशावास्योपनिषद्

भगवद्गीता में व्यक्ति के उच्चतम आध्यात्मिक प्रयत्न का समन्वय अधिकतम व्यवहार्य सामाजिक सहकार के साथ किया गया है। हमें जीवन के कार्य करते रहना चाहिए, परन्तु उन्हें यह स्मरण रख कर करना चाहिए कि हम जो कुछ करते हैं वह सब परमात्मा का काम है। इस भावना से किये हुए कर्म दूसरे जन्म में हमारे लिए बन्धन-रूप न होंगे। भगवद्गीता की यह शिक्षा ईशावास्योपनिषद् के प्रथम दो श्लोकों में पूर्णतया प्रतिपादित की गई है।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गूधः कस्य स्विद्धनम् ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ७ समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥१—२

—जगत् की प्रत्येक वस्तु परमात्मा में स्थित है। इसका भली भांति अनुभव करो, और अनुभव करके हृदय में उठने-वाली सब कामनाएं—उदाहरणार्थ, दूसरे के भोग की वस्तु को हस्तगत करने का विचार—त्याग दो। सुख की प्राप्ति कामनाओं और आसक्तियों को छोड़ने से ही होती है। तुम निर्लिप्त भाव से कर्म करते हुए और प्रत्येक वस्तु परमात्मा को अर्पित

करके दीर्घतम जीवन व्यतीत कर सकते हो। केवल इसी प्रकार हम कर्म के दोषों से बच सकते तथा जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

वेदान्त की आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी शिक्षा से हमें कर्तव्य की उपेक्षा और मन के अनुशासन तथा इन्द्रिय-निग्रह के प्रति उदासीनता की भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए। दैनिक जीवन के कर्मों को निर्लिप्तता के साथ करने से आध्यात्मिक ज्ञान तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए—जिससे कि मोक्ष प्राप्त होता है—उपयुक्त आधार का निर्माण होता है। वास्तव में आचाररहित दार्शनिक विद्वत्त्व वेदान्त-ज्ञान रहित कर्मकाण्ड से भी अधिक भयावह है। इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्म-परिशुद्धि और पूर्व-आयोजन के बिना आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है; और, यदि सम्भव भी हो तो मूल्यहीन है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है : आध्यात्मिक ज्ञान से रहित मनुष्य जैसा करते हैं, वैसे ही तुम भी अपने को प्राप्त हुई जीवन-अवधि कर्मों और उपासना से परिपूर्ण करो, परन्तु सब कर्म निर्लिप्त भाव से करो और विधियों को उसी अर्थ में मानो, जो कि तुमने आध्यात्मिक ज्ञान से सीखा है। इससे तुम मृत्यु से अमरत्व की ओर जाओगे।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया उरतः ॥९

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥११

१. 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दों से बहुत कठिनता उत्पन्न हुई है और संदर्भ से शंकाओं के समाधान में सहायता नहीं मिलती। परन्तु मैं यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि इलोको का सार वही है, जो मैंने ऊपर दिया है।

—इस उपनिषद् के शांतिश्लोक में परमात्मा के साथ जीवात्मा का संबंध पूर्णतया निरूपित हुआ है। हमारा अन्तःस्थित आत्मा दिव्यता मूलक है। वह उसी तत्त्व का है, जिसका परमात्मा। व्यक्ति का निर्माण करनेवाला अंश पूर्ण का अंश है और जिस तत्त्व का वह बना है वह इतना सूक्ष्म है कि पूर्ण से अंश के निकल जाने पर भी पूर्ण-पूर्ण ही बना रहता है। फिर, यद्यपि निकला हुआ तत्त्व अंश-मात्र है, तथापि वह मूल के समान ही पूर्ण है। गणित के पूर्ण और अंश संबंधी प्रमाण निरपेक्ष ब्रह्म और उसके प्रत्यक्षीकरण पर लागू नहीं होते।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकल आया है। फिर भी पूर्ण पहले के समान ही पूर्ण बना है।

जिस प्रकार जीवात्मा शरीर का प्राण है और आत्मा के बिना शरीर शव-मात्र रह जाता है, उसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा का प्राण है। फिर भी, जैसे जीवात्मा शरीर में, “खो” जाता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा के आत्मा के रूप में प्रवृत्त रहता हुआ अपने वास्तविक दिव्य स्वभाव से विरत हो जाता है। जो गतिमान है वह परमात्मा ही है; परन्तु वस्तुतः गति ही नहीं; क्योंकि जो-कुछ भी है, सब वही एक सत्यरूप परमात्मा है। जब कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं तब गति नहीं हो सकती। वह बहुत दूर है, क्योंकि हम उसका साक्षात्कार नहीं कर पाते। वह निकट है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है और हमारे हृदय की गुहा में विद्यमान है। यदि हम परमात्मा की इस सर्वव्यापकता का अनुभव कर लें, तो हमारे और अन्य के बीच का भेद मिट जायेगा और इसके साथ दुःख और भ्रांति का भी,

स्वाभाविक रूप में, नाश हो जायेगा। गीता के छठे अध्याय के श्लोक के शब्द लगभग वही हैं जो ईशावास्य उपनिषद् के निम्न लिखित श्लोकों के हैं :

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद्गु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५

—वह गमनशील है। वह गमनशील नहीं है। वह बहुत दूर है, फिर भी बहुत निकट है। हमें जिन वस्तुओं का ज्ञान है, उनमें से प्रत्येक का वह अन्तरात्मा है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६

—यदि कोई मनुष्य सब प्राणियों को ऐसे देखता है, मानो वे उसके ही शरीर में स्थित हों; अर्थात् उनके सुखदुःख को अपने ही सुखदुःख जैसा अनुभव करता है और एक ही परम आत्मा को उन सब के अन्दर देखता है, तो उसे दूसरों से अपना रक्षण करने की आवश्यकता नहीं होती।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७

—जब कोई मनुष्य समझ लेता है कि भूतमात्र वस्तुतः सर्व-व्यापी परमात्मा ही हैं, तब वह सब वस्तुओं की एकता का अनुभव करता है और शोक तथा भ्रम का नाश हो जाता है।

ईशावास्य उपनिषद् में संतुलन पर जोर दिया गया है। श्लोक ६, ११, १२ और १४ में, जो दुर्भाग्यवश अस्पष्ट हैं, ज्ञान तथा अनुशासन का और प्रकृति तथा पुरुष पर ध्यान देने का महत्व बताया गया है।

इस उपनिषद् का उपसंहार आंतरिक और बाह्य पवित्रता

२८ : : उपनिषद्

स्थापित रखने के लिए शक्ति की प्रार्थना के साथ हुआ है। मुमुक्षु को प्रभात सूर्य का दर्शन करके यह महसूस करने और प्रार्थना करने की प्रेरणा दी गई है : “हे तेजोमय सूर्य ! मैं वही पुरुष हूँ, जो तुममें निवास करता है।” और अपने प्रति कहने की प्रेरणा दी गई है : “मेरा शरीर नष्ट हो जायेगा, परन्तु मेरा और मेरे कर्मों का नाश नहीं होगा। हे मन ! इसे सदा स्मरण रख, इसे सदा स्मरण रख !”

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ॥

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते

पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६

—हे सूर्य ! तू हमारा पोषक, ज्ञानदाता, न्यायकर्ता, प्रकाश-दाता और प्राजापति का पुत्र है; तू अपनी रश्मियों को हटा ले, अपने तेज को समेट ले, जिससे मैं तेरा दिव्य सौन्दर्यमय रूप देख सकूँ। मैं वही पुरुष हूँ, जो तुझे, जो-कुछ तू है, बनाता है।

मेरे शरीर के संबंध में।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ऽशरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर कृत ऽस्मर क्रतो स्मर कृत ऽस्मर ॥ १७

—मेरा शरीर भस्म हो जायेगा और मेरी श्वास अमर और अशान्त वायु में मिल जायेगी। हे मन ! अपने कर्मों को स्मरण कर !

यह सूचित कि उस तेजस्वी रूप में दिखलाई पड़नेवाला पुरुष मैं ही हूँ, किंचित् परिवर्तित रूप में छान्दोग्य उपनिषद् में भी पाया जाता है। आग्रह जगत् की सर्वसमावेशी एकता का साक्षात्कार करने पर है। सूर्य में स्थित पुरुष वही है, जो मैं हूँ ! निर्लिप्तता, आत्मा की उन्नति और आत्म-साक्षात्कार में सहायता के लिए इस सत्य के नित्य जाप और ध्यान की प्रेरणा दी दी गई है।

३/केनोपनिषद्

परम पुरुष क्या है ? हमारे अनुभव के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? इस उपनिषद् में यही जिज्ञासा का विषय है । ईशावास्य उपनिषद् की भांति यह उपनिषद् भी अपने प्रथम शब्द—‘केन’, अर्थात् ‘किसके द्वारा’—के नाम से प्रसिद्ध है ।

हम ब्रह्म के स्वभाव को न इन्द्रियों से जान सकते हैं और न मानवीय तर्क से । यह इसलिए कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान-साधन सब एक ही हैं । स्वयं ज्ञान भी परब्रह्म के द्वारा ही काम करता है ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

यत्प्राणेन न प्राणिंति येन प्राणः प्राणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (१) ५, ६, ७, ८

—परब्रह्म वह है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण मन मनन करता है । वह कोई विचारणीय वस्तु नहीं है, जिसे मन ग्रहण कर न सके; वर वह परमतत्त्व है, जो मनुष्य को मन द्वारा विचार

करने में समर्थ करता है। वह नेत्रों को देखने की, श्रवणों को सुनने की और प्राणों को जीने की शक्ति देनेवाला है; न कि वह, जिसे देखने के लिए आंखों की, सुनने के लिए श्रवणों की और जीने के लिए प्राणों की आवश्यकता होती है। इन कार्यों का आधार ब्रह्म है; इसीलिए इन्द्रियां और मन ब्रह्म को समझने में असमर्थ हैं। इस प्रकार, ब्रह्म सर्वान्तर्यामी और निरपेक्ष है; वह नहीं, जिसकी इस नाम से उपासना की जाती है, अर्थात् वह केवल देवताओं में से एक, अथवा उनके समान, नहीं है।'

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि

नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।

यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु

मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ (२) १, ३

—जो मानता है कि मैं यथार्थ में जानता हूं, वह अपनी इस धारणा के द्वारा अपने आप को अज्ञानी सिद्ध करता है। जो अनुभव करता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जान सकता, उसने उसे सबसे भली भांति समझा है। जो साधारण ज्ञान की वस्तुओं

1. जीवन शरीर के कार्यों का संग्रह नहीं, वरन् परब्रह्म का एक कार्य है; क्योंकि परम नियन्ता के बिना एक विचार, एक-श्वास और एक दृष्टि भी संभव नहीं है। एक अन्य अर्थ भी लगाया जा सकता है। वह यह है कि ये श्लोक जीवात्मा को लक्ष्य करके आत्मा और शरीर के भेद पर जोर देते हैं, जैसा कि श्री रामानुजाचार्य के माध्य के अनुसार गीता के आरंभिक अध्यायों में व्यक्त किया गया है। "यह शरीर ग्रहण मत कर, जिसका भरण-पोषण करना पड़ता है। आत्मा को खोज और उसकी सार-संभाल कर।"

की भांति उसे जानने का प्रयत्न करते हैं, वे अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकते हैं। जो परम पुरुष के ज्ञान के सम्बन्ध में मानवीय मन की मर्यादाओं का अनुभव करते हैं और, इसलिए, निष्कपट भाव से अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं, वे वास्तव में उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त करते हैं।

उपर्युक्त सूक्त में परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने में मानवीय ज्ञान की मर्यादाओं का निरूपण किया गया है।

प्रतिबोष विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥(२)—४

—हम परम पुरुष का दर्शन केवल जाग्रत होकर कर सकते हैं, तर्क के द्वारा नहीं। चरम सत्य की सापेक्षता में जीवन निद्रा की स्थिति के समान, और बुद्धि उस सोते हुए मनुष्य के समान है, जो जागे बिना ही जानने का प्रयत्न करता है कि मेरा उद्देश्य क्या है। निद्रा का जाग्रति के साथ जो सम्बन्ध है वही साधारण जीवन का साक्षात्कार की स्थिति के साथ है।

आत्म-अनुशासन आत्मशक्ति प्रदान करता है—‘आत्मा विन्दते वीर्यं’ और, जो इस प्रकार शक्तिमान हो जाता है उसे ज्ञान अमरत्व प्रदान करता है :

‘विद्यया विन्दतेऽमृतम्।’ आत्मा स्वयं अमर है, और मनुष्य को अमर बनने के लिए केवल उसे ज्ञान लेने की आवश्यकता है। कोई मनुष्य स्वप्न देखता है कि मैं असाध्य रोग से ग्रस्त हूँ और मर रहा हूँ। परन्तु जैसे ही वह जागता है वैसे ही अपने आपको नीरोग पाता है और फिर से जीवन प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञान मनुष्य को अमरत्व प्रदान करता है।

इस उपनिषद् के तृतीय खण्ड में एक रूपक है। उसमें पहले

का यह सत्य स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक वस्तु परमात्मा पर आश्रित है। वही परमात्मा अग्नि को तेज, गति को शक्ति और वैयक्तिक ज्ञान को—वह कितना ही व्यापक क्यों न हो—जानने की क्षमता प्रदान करता है। समस्त प्राणी बिजली के दीपक के समान हैं, जो परम पुरुष से प्राप्त विद्युत-शक्ति के द्वारा प्रदीप्त होते हैं; परन्तु वे स्वयं इसे नहीं जानते।

एक बार एक महान विजय पर देवतागण आनन्द मना रहे थे। उनके सामने ब्रह्म प्रकट हुए। देवता उन्हें पहचान या समझ नहीं सके। उनसे मिलकर उनका परिचय प्राप्त करने के लिए अग्नि, वायु और इन्द्र को भेजा गया। वे एक-एक करके उनके पास गये और उन्होंने उनपर अपनी-अपनी शक्ति का प्रभाव डालने का प्रयत्न किया। परन्तु जब उन्हें अपनी प्रगल्भित शक्ति प्रमाणित करने की चुनौती दी गई तो अग्नि और वायु अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करके भी अपने सामने रखे सूखे तिनके को जला अथवा तिलभर हटा न सके। दोनों के हार जाने पर स्वयं इन्द्र वहां गये; परन्तु सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र कुछ भी देख न पाये। ब्रह्म की छवि उनकी दृष्टि से विलकुल ही ओभ्ल हो गई।

तेऽग्निमब्रुवत् जातवेद एतद्विजानीहि

किमेतद्व्यक्षमिति । तथेति ॥ (३)—३

—उन्होंने अग्नि से कहा, “हे जातवेदा ! जाइए और देखिए कि यह दिव्य विभूति कौन है।” अग्नि ने कहा, “बहुत अच्छा।”

तदभ्यब्रुवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा-

अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ (३)—४

—वह उस विभूति के समीप दौड़कर गया। विभूति ने पूछा, “तुम कौन हो ?” अग्नि ने कहा, “मैं अग्नि हूँ; मुझे जातवेदा भी कहा जाता है।”

तस्मिन्स्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं

सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति । (३)—५

—विभूति ने पूछा, “तुम में क्या सामर्थ्य है ?” अग्नि ने उत्तर दिया, “मैं पृथ्वी की सब वस्तुओं को जला सकता हूँ ।”

तस्मै तृणं निदधावेतद्देहि,

तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धं ।

स तत एव निववृते

नैतदशकं विज्ञातुं यदतेद्यक्षमिति ॥ (३)—६

—विभूति ने अग्नि के समक्ष एक सूखा तृण रख दिया और कहा, “इसे जला दो ।” अग्नि ने अपनी पूरी शक्ति से उस पर आक्रमण किया परन्तु वह उसे जला नहीं सका । वह देवताओं के पास लौट आया और उसने कहा, “मैं नहीं जान सका कि यह विभूति कौन है ।”

अथ वायुमब्रुवन्, वायवेतद्विजानीहि

किमेतद्यक्षमिति । तथेति ॥ (३)—७

—तब उन्होंने वायु से कहा, “आप जाइए; पता लगाइए कि वह कौन है ।” और वायु ने कहा, “ऐसा ही हो ।”

तदस्यब्रवत्, सम्यवदतकोऽसीति ।

वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ (३)—८

—वह दौड़कर उस विभूति के पास गया । विभूति ने पूछा, “तुम कौन हो ? वायु ने कहा, “मैं वायु हूँ, मुझे मात-रिश्वा भी कहते हैं ।”

तस्मिन्स्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं

सर्वं प्राददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ (३)—९

—तब विभूति ने कहा, “तुम में क्या सामर्थ्य है ?” वायु ने उत्तर दिया, “इस पृथ्वी की सब वस्तुओं को मैं उड़ा सकता हूँ ।”

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति,
तद्रुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न
शशाकादातुम् । स तत एवनि ववृते
नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ (३)—१०

—इस पर विभूति ने वायु के समक्ष एक जीर्ण तृण रखा और कहा, “इसे उड़ा दो ।” वायु अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उस पर झपटा; परन्तु उसे हटा न सका । वह देवताओं के पास लौट आया और उसने कहा, “मैं नहीं जान सका कि यह कौन है ।”

अथेन्द्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति ।

तथेति । तदभ्यव्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ (३)—११

—तदुपरान्त देवताओं ने इन्द्र से उस विभूति का परिचय प्राप्त करने की प्रार्थना की । वे सहमत हो गये, परन्तु जब वह विभूति के पास दौड़कर गये तो उन्होंने देखा कि विभूति उनकी दृष्टि से बिलकुल तिरोहित हो गई है ।

४/ श्वेताश्वतरोपनिषद्

वेदान्त की शिक्षा का निम्नलिखित श्लोकों में संक्षेप किया गया है :

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च,
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाद्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (१)-८

—इस जगत् का, जो व्यक्त और अव्यक्त तथा अक्षर और क्षर की एकता के आधार पर संगठित हुआ है, परमेश्वर ही भरण करता है। जीवात्मा इंद्रियों के द्वारा विषयों का भोक्ता होने के कारण स्वामित्व की चेतना खो देता है और बंधन-ग्रस्त हो जाता है। जब वह अपने स्वामित्व का अनुभव करता है, तब प्रत्येक बंधन से मुक्त हो जाता है। मनुष्य अपने आत्मा की दिव्यता का साक्षात्कार करे। इसके द्वारा उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः,
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्यामिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्,
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ (१)-१०

—ईश्वर आत्मा पर और भौतिक प्रकृति पर भी, जो आत्मा की प्रवृत्तियों का क्षेत्र है, शासन करता है। मनुष्य इन तीनों, अर्थात्, ईश्वर, प्रकृति और आत्मा के सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार होने तक मनन तथा बार-बार ध्यान करने से जगत् की समस्त माया से मुक्त हो जाता है।

अग्नि ईंधन में छिपी रहने पर दिखलाई नहीं पड़ती। परन्तु ईंधन के जलने पर वह प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार ध्यान हमारे अन्तस् से परम पुरुष को प्रकट कर देता है। यद्यपि परमात्मा व्यक्त नहीं है, तथापि वह तिल में छिपे हुए तेल के समान, दूध में छिपे हुए घी के समान, नदी की रेत में छिपे हुए जल के समान और अरणी में छिपी हुई अग्नि के समान हमारे अन्तस् में निवास करता है। जब अरणी की दो लकड़ियों का घर्षण किया जाता है, तब अग्नि प्रकट हो जाती है। दूध को मथने से मक्खन निकल आता है। नदी की बालू में गड्ढा खोदने से पानी दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार हमारे अन्तस् में रहने वाला दिव्य आत्मा भी सत्यमय आचार, ध्यान और मन तथा इंद्रियों के निग्रह द्वारा प्रकट किया जा सकता है। यही तप है। मनुष्य अपने शरीर को नीचे की अरणी और ज्ञान को ऊपर की अरणी बना कर ध्यान के द्वारा अग्नि को प्रकट करे।

बह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिनं

वृश्यते नैव च लिंगनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-

स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ (१)-१३

—जिस प्रकार अग्नि गर्भ, अर्थात् ईंधन में रहती हुई प्रकट रूप में दिखलाई नहीं पड़ती, फिर भी उसका अस्तित्व तो होता ही है, और जिस प्रकार ईंधन के जलने पर वह उसके अनुरूप प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में रहता और प्रकट होता है। प्रणव (ओंकार) की साधना से आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

स्वदेहमरणिं कृत्वा, प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मयताभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ (१)-१४

—अपने शरीर को नीचे की अरणी और प्रणव को ऊपर की अरणी बना कर ध्यान द्वारा मंथन करो। इस प्रकार तुम अपने अन्तस् में छिपी हुई दिव्यता का दर्शन कर सकोगे।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः

स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ,

सत्येनैनं तपसा योज्युपश्यति ॥ (१)-१५

—जिस प्रकार तिल में तेल, दधि में घृत और नदी की बालू में जल प्राप्त होता है, उसी प्रकार सत्य, आचार और इंद्रियों तथा मन के निग्रह से अपने अन्तर्निवासी आत्मा को भी प्राप्त किया जा सकता है।

निम्नलिखित श्लोकों में परम पुरुष से ज्ञान की प्रार्थना की गई है। वह परम पुरुष एक ही है, परन्तु वह अनेक रूप धारण करता और अनेक कार्य तथा अधिकार ग्रहण करता है। वे सब अन्ततः फिर एक होकर उसी में मिल जायेंगे। सूर्य, चन्द्र, वायु नक्षत्रमय आकाश, अग्नि, जल, ब्रह्मा और शिव, युवा एवं जरा-ग्रस्त पुरुष और स्त्री, पशु, पक्षी, कीट, नील, पतंग, लाल आंखों

वाले हरे तोते, बिजली दमकानेवाले मेघ, सागर, ऋतुएं—सब उसी अनादि और सब के कारण-स्वरूप परब्रह्म में फिर से मिल जायेंगे ।

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्-
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।

वि चंति चान्ते विश्वमादौ स देवः,
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तव वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तव ब्रह्म, तदापस्तत्रजापतिः ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि,
त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि,
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे,
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ (४) १—४

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा,
सदा जनानां हृदये संन्निविष्टः ।

हृदा मनीषा मनसाभिव्यक्तो

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (४)—१७

—वह दिव्य पुरुष, परमात्मा, जिसने जगत् की सृष्टि की है, सदा मनुष्यों के हृदयों में निवास करता है । हृदय और बुद्धि के परस्पर मिल जाने और मन पर नियंत्रण करने से तथा ध्यान के द्वारा वह प्रकट होता है । जो उसका इस प्रकार साक्षात्कार करते हैं, वे अमरत्व प्राप्त करते हैं ।

न संवृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चननम् ।
हृदा हृदित्यं मनसा य
एनमेवं विदुरमृतास्ते नवन्ति ॥ (४)-२०

—मनुष्य के हृदय में निवास करनेवाला यह ईश नेत्रों से नहीं, परन्तु हृदय से देखा जा सकता है और जो इसे इस प्रकार अपने हृदय से देखता है, वह अमरत्व प्राप्त करता है ।

कुछ विद्वान् पुरुष कल्पना करते हैं, कि प्रपञ्च का सच्चा कारण काल और प्रकृति के गुण हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं । सच्चा कारण सब चराचर सृष्टि में व्याप्त और उसे उत्प्राणित रखनेवाले परमात्मा की महिमा है । जब मनुष्य इस विश्वव्यापी पुरुष को अपने अन्तस् में खोज निकालता है, तब उसके जीवन का समस्त दुःख-दैन्य नष्ट हो जाता है । ईश्वर के अन्तर्यामीत्व का अनुभव किये बिना सुख प्राप्त करने की अपेक्षा चमड़े का गट्ठर ले जाने वाले चर्मकार की भांति आकाश को लपेट कर अपने सिर पर ले जाना अधिक सरल है ।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ (६)-१

—कुछ विद्वान् पुरुष सृष्टि-चक्र का कारण वस्तुओं का सहज स्वभाव बताते हैं, अन्य भांत लोग कहते हैं कि उसका कारण समय है । परन्तु वस्तुतः चक्र के घूमने और जगत् के चलते रहने का एक मात्र कारण ईश्वर की महिमा है ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति भानवाः ।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ (६)-२०

—यदि मनुष्य सब में निवास करनेवाले परमात्मा को जाने बिना ही अपने दुःखों का अन्त कर सके तो वह, सचमुच आकाश को चमड़े के समान लपेट सकता है ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ (६)-११

—सब प्राणियों के अन्तस् में छिपा हुआ परमात्मा एक ही है । वह सब में व्याप्त है । वह सब प्राणियों का अन्तरात्मा और सब क्रियाओं का अध्यक्ष है । वह सब प्रकार के प्राणियों में निवास करता है । वह शाश्वत साक्षी है, जिसके अन्दर निवास करता है उससे तटस्थ रहनेवाला चेता है और निर्गुण है ।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम् ।

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवनिलम् ॥ (६)-१६

—उसके अंग नहीं हैं, वह निष्कर्म, शांत, दूषित न होने योग्य, और निष्कलंक है । वह अमरत्व को ले जानेवाला परम सेतु है, अग्नि के समान जलानेवाला और तृप्त न किया जा सकने योग्य है ।

पिता अथवा गुरु से प्रत्यक्ष शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है । इसके बिना पुस्तकीय ज्ञानमात्र बहुत लाभदायक न होगा । परन्तु सब से अधिक महत्वपूर्ण यह है कि पहले चरित्र को शुद्ध

और मन तथा इंद्रियों को नियंत्रित किया जाय । परमसत्य के ज्ञान और साक्षात्कार के लिए यह नितान्त आवश्यक है । अन्यथा ज्ञान देना हानिकारक होता है, लाभदायक नहीं । इस-लिए निम्नलिखित निषेध किया गया है :

वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम् ।

नाऽप्रशान्ताय दातव्यम् नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः ॥ (६)-२२

५/तैत्तिरीयोपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् (प्रथम वल्ली, एकादश अनुवाक) में एक दीक्षान्त उपदेश है, जिससे हमें प्राचीन शिक्षा प्रणाली का कुछ पता चलता है।

धेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति सत्यं वद धर्मं चर ।
स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहुत्य प्रजातन्तुं मा
व्यवच्छेत्सीः । सत्यान् प्रमदितव्यम् । धर्मान् प्रमदितव्यं । कुशलान्
प्रमदितव्यम् । भूतै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न
प्रमदितव्यं ॥१॥

—वेदों का अध्ययन कराने के उपरान्त आचार्य अन्तेवासी को इस प्रकार शिक्षा देता है :

सत्य बोलो । अपने कर्तव्य का पालन करो । नित्य वेदों का अध्ययन करने में कभी न चूको । अब गुरु के साथ तुम्हारा साहचर्य समाप्त होता है, अतएव विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना । सत्य और धर्म से कभी विचलित न होना और समाज-व्यवस्था के लिए कुछ उपयोगी कार्य करना । महानता प्राप्त करना और तुमने जो कुछ सीखा है, उसकी स्मृति सदा नवीन रखने में कभी मत चूकना ।

देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यं ॥ मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । याग्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । याग्यस्माकं सुचरितानि, तानि

त्वयोपास्यानि, नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रवृत्तित्वम् ।

—देवों और अपने पितरों को स्मरण रखो । अपनी माता का सम्मान करो । उसे देव के समान मानो । अपने गुरु का देव के समान सम्मान करो । अपने अतिथियों का सम्मान करो । उन्हें ऐसी दृष्टि से देखो, जैसे कि भगवान ही तुम्हारी सेवा प्राप्त करने के लिए आया हो । ईश्वर करे, तुम सदैव अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करो और निर्दोष को सदोष से पृथक् करके सदोष से बचो और निर्दोष का सदैव आचरण करो । तुम्हारे गुरु के जीवन में जो कुछ अच्छा हो उसका अनुसरण करो, अन्य कुछ का नहीं । तुम अपने जिन गुरुओं के साथ रहे हो उनसे भी अच्छे पुरुषों से तुम्हारी भेंट होगी । उनका उचित आदर करना ।

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । भिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ॥३॥

—दान श्रद्धा के साथ करो । अश्रद्धा के साथ नहीं, वरन् प्रसन्नता के साथ, नम्रता के साथ, भय के साथ और दया-भाव के साथ करो ।

अथ यदि ते कर्मविविक्तिसा वा द्यूतविविक्तिसा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तन् । तथा तत्र वर्तथाः ॥ अथाम्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तन् । तथा तेषु वर्तथाः ॥ एष आदेशः । एष उपदेशः ॥

(१-११)-३-६

—यदि तुम्हारे मन में शंका उत्पन्न हो जाय कि क्या सही और क्या गलत है, तो उन विषयों में अपने पड़ोस में रहने-वाले धार्मिक और शिष्ट पुरुषों का अनुसरण करो । यही आदेश है और यही उपदेश है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् की तृतीय बल्ली में वरुण अपने पुत्र भृगु को प्रकृति और आत्मा दोनों में ब्रह्म की व्यापकता की शिक्षा देते हैं। हम जो अन्न ग्रहण करते हैं, जिस वायु में श्वास लेते हैं, वह ब्रह्म के पवित्र रूप हैं; उनसे हमारे शरीर का गठन होता है, हमें बोलने, विचार करने, कार्य करने, इच्छाशक्ति का उपयोग करने और समझने की शक्ति प्राप्त होती है।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्

अन्नाद्भवेव सत्त्वमानि भूतानि जायन्ते ।

अन्नेन जातानि जीवन्ति ।

अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ (३)-२

—उसने जान लिया कि अन्न ब्रह्म है; क्योंकि, सचमुच में, अन्न से ही इस जगत् के सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही वे जीते हैं और मृत्यु के पश्चात्, फिर से दूसरे प्राणियों के लिए अन्न बन जाते हैं।

हमें अन्न की बुराई नहीं करनी चाहिए। उसे फेंकना भी नहीं चाहिए। हमें विपुल अन्न उत्पन्न करना चाहिए। जो भी अन्न के लिए आवे वह कुछ दिये बिना लौटाया न जाये।

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् ।

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् ।

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् ।

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् ॥ (३)-७-१०

शिक्षा यह है कि अन्न को ब्रह्म माना जाय; क्योंकि अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही वे जीते हैं और मृत्यु के बाद अन्न ही बनते हैं। एक-दूसरे के आहार के रूप में ही सब प्राणियों को अन्योन्याश्रित बनाया गया है और इसी रूप में संसार की शृंखलाबद्ध अखंडता उत्पन्न हुई है।

६/छान्दोग्योपनिषद्

छान्दोग्य उपनिषद् का छठा अध्याय इस पुरातन पहेली से प्रारम्भ होता है, “क्या कोई आदि कारण था ?” क्या यह देख कर कि कारणों की गवेषणा हमें उनकी एक अनन्त शृंखला में पीछे ले जाती है, हम कारण का सिद्धान्त ही छोड़ दें और कहने लगे कि जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है ? ऋषि का कथन है—यह नहीं हो सकता । शून्य से शून्य ही निकल सकता है । असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता । इसलिए, हमें मानना ही पड़ेगा कि कारणरहित प्रारम्भ में आदि कारण—सत्, अर्थात् चिन्मय परमात्मा, अवश्य था ।

सत् ने विस्तार तथा बहुगुणन की इच्छा की । इसलिए उसने तेजस् उत्पन्न किया । तेजस्-स्थित पुरुष ने बहुगुणन की इच्छा की और जल उत्पन्न किया । जल-स्थित पुरुष ने अनेक रूप होने की इच्छा की और अन्न उत्पन्न किया, जिससे जगत् के सब प्राणी उत्पन्न होते हैं ।

पाठक ऐसा अनुमान न कर लें कि आधुनिक विज्ञान की उन्नति से यह स्पष्टीकरण पुराना पड़ गया है, अतएव स्मरण रखना अनुचित न होगा कि इस विषय पर न तो रसायन विज्ञान ने, न जीव विज्ञान ने और न किसी अन्य भौतिक विज्ञान ने ही कुछ प्रकाश डाला है । रासायनिक तथा अन्य नियम निरीक्षित और परीक्षित प्रपंच का वर्गीकरण तथा सरलीकरण

मात्र है; इससे अधिक कुछ नहीं। परिचय अथवा वर्गीकरण ही स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। जिस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा वह छान्दोग्य उपनिषद् का “सत्” है।

श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक से, जो उसे शिक्षा दे रहे थे, पूछा, “यह बहुसंख्य, विविधतामय, विशाल जगत् इतनी सरल रीति से कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति मिन्धीति मिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेसा धाना भगव इत्यास्तामंगैकां मिन्धीति मिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति ॥१॥ तं होवाच यं वै सोम्येतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्येषोऽणिम्न एवं महान्त्यग्रोधस्तिष्ठति ॥२॥ अद्भुत्स्व सोम्येति स य एषोऽणिमेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति श्रूय एव सा भगवान् विज्ञापयित्वति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥ (६-१२)-१-३

उद्दालक ने कहा, “उस विशाल वटवृक्ष का एक फल ले आओ।”

“ले आया, भगवन् !” श्वेतकेतु ने कहा।

“उसे फोड़ो। उसमें क्या दिखलाई पड़ता है ?”

“छोटे-छोटे बीज।”

“एक बीज को फोड़ो।”

“फोड़ लिया, भगवन् !”

“उसमें क्या दिखलाई देता है ?”

“कुछ नहीं।” पुत्र ने कहा।

“फिर भी, इस छोटे-से बीज की जिस अणिमा को तुम देख भी नहीं पाते, उसमें ही यह विशाल शाखायुक्त सम्पूर्ण वट-वृक्ष निहित था। इस पर तुम्हें आश्चर्य होता है ? इसीके समान यह जगत् भी, अथवा जो कुछ भी है वह सब, उस “सत्” में था, जो तुम भी हो। विदवास करो, सोम्य ! तुम वही हो।”

दूसरा प्रश्न है : “यदि सत् सब का सर्वव्यापी कारण है तो वह स्पष्टतः परिलक्षित क्यों नहीं होता ?”

जिस प्रकार नमक का टुकड़ा पानी में घुलकर अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार संसार से सत् दृष्टि से छिपा रहता है। जैसे नमक पानी की प्रत्येक बूंद में भिद जाता है, उसी प्रकार सत् जगत् की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त रहता है, खो नहीं जाता। निम्नलिखित सूक्तों में इस विषय की शिक्षा का ज्वलन्त प्रतिपादन है, जो हमें आधुनिक प्रयोगशाला के पाठ का स्मरण कराता है :

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । तं होवाच—यद्दोषा लवणमुदकेऽवधा अंग । तदाहरेति । तद्वावमुश्य न विवेद ॥१॥ यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति । कथमिति ? लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति ? लवणमित्यन्ताचामेति ; कथमिति ? लवणमित्यभि प्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छ्ववत्संवर्तते तं होवाचात्र धाव किल सत्सोम्य ! न निमालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥ स य एषोऽणिमेतदात्म्यमिव सर्वं वत्सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ (६-१३)-१-३

—“हम अव्यक्त सत् का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?”

—यह अगला प्रश्न है ।

यथा सोम्य ! पुरुषं गन्धारेभ्योऽग्निनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताग्निनद्धाक्ष आनीतोऽग्निनद्धाक्षो विसृष्टः ॥१॥ तस्य यथाऽग्निनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति । स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्, पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद । तस्य तावदेव चिरं यावन्त विमोक्षेय्यं सपत्स्य इति ॥२॥ स य एषोऽणिमेतदात्म्यमिव सर्वं वत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥ (६-१४)-१-३

—मनुष्यों की दशा उस मनुष्य की दशा के समान है जिसे आंखों पर पट्टी बांध कर चोर उसके देश से हर ले जायें और किसी मित्र द्वारा पट्टी खोल दी जाने पर वह फिर देखने लगे और एक-एक कदम चल कर, प्रत्येक ग्राम में पूछता हुआ, धीरे-धीरे अपने घर की राह पा ले। इसी प्रकार सद्गुरु सत्य के अन्वेषक को शिक्षा देता है, उसे कामना का बंधन तोड़ने में सहायता करता है और चोरों ने उसकी रक्षा करता है। चोर उसके पूर्वजन्मों के कर्म हैं, जिनके कारण ही वह इस घाटी में आ पड़ा है। जैसे ही वह अपने को अन्वा कर देनेवाली भावनाओं और आसक्तियों को छोड़ कर फिर से दृष्टि प्राप्त करता है, सत् को लौटने का मार्ग भी पुनः पा लेता है। तदुपरान्त केवल प्राकृतिक मृत्यु की प्रतीक्षा करना ही शेष रह जाता है।

७/मुण्डकोपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षनिर्यजत्राः ॥
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो
वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्वधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—परमात्मन् ! हमारे कान शुभ वचन सुनें, हमारे नेत्र
शुभ वस्तुओं का अवलोकन करें ! हम जितने समय जियें,
हमारे अंग और शरीर स्वस्थ रहें, जिससे हम आपका स्तवन
करते रहें । सब देवता हमारा कल्याण करें ! हमारे मन के
ताप शान्त हों !

इस उपनिषद् में अंगिरा के उपदेश हैं, जो उन्होंने अपने
शिष्य शौनक को दिये थे ।

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिहस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति,
परा चैवापरा च ॥४॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा,
कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा, यथा तदक्षर-
संधिगम्यते ॥५॥ (१-१)-४-५

—शौनके के योग्य दो ही विद्याएं हैं—एक परा और दूसरी
अपरा । वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—तथा शिक्षा,
कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और वह सब-कुछ जो
साधारणतः विद्या के नाम से जाना जाता है, अपरा विद्या के

अन्तर्गत हैं। परा विद्या वह है, जिससे अक्षर ब्रह्म का बोध होता है।'

एतत्वा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽग्निनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥७॥ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितमन्यमानाः । जंघन्यमानाः परिर्यान्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥ (१-२)-७-८

—कर्मकाण्ड और यज्ञ मनुष्य को चक्र में घुमाते रहते हैं। परम लक्ष्य की प्राप्ति, जो केवल अपने आत्मा को पहचानने से ही हो सकती है, उनसे नहीं होती।

यद्यपि यज्ञ की अव्यर्थता सम्बन्धी लौकिक श्रद्धा को उपनिषदों में दृढ़ता के साथ अमान्य नहीं किया गया, तथापि उसे सच्चे और शाश्वत सुख की ओर न ले जानेवाली बता कर शिष्टतापूर्वक उपेक्षित कर दिया गया है।

कठोपनिषद में मूर्खों के अपने आप को ज्ञानी समझने के सम्बन्ध में जो सूक्त हैं, वह केवल एक शब्द-भेद के साथ यहां भी उपलब्ध हैं। कठोपनिषद् और ईशावास्य उपनिषद् में जिस महत्त्वपूर्ण "अविद्या" शब्द का प्रयोग हुआ है, उस पर वहां प्रकाश डाला गया है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कुतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्प्राणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

१. स्मरण रखना चाहिए कि वेद उस काल के समस्त ज्ञान के कोश थे। न कि केवल स्तवन-ग्रंथ।

यह अनुभव करके, जिज्ञासु को अनित्य विषयों की कामनाओं और आसक्तियों को छोड़ देना चाहिए, और आदरपूर्वक गुरु के पास जाना चाहिए, जो अपने ज्ञान और चरित्र से उच्चतर ज्ञान प्रदान करने के योग्य हो।

तदेतत्सत्यम्, यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! मावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥ R65, 6 (२-१)—१

—यह सूक्त जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध के बारे में है। 15249

आत्मा उस स्फुलिंग के समान है, जो अग्नि की ज्वाला से निकलकर पुनः उसमें समा जाता है।

यह निष्कर्ष निकालने के लिए छोड़ दिया गया है कि स्फुलिंग अग्नि की ही प्रकृति का है और अग्नि से अलग उसका अस्तित्व नहीं है।

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो विशः ओत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥ तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुष्पात्संप्रसूताः ॥५॥ (२-१)—४-५

—सम्पूर्ण जगत् उस विश्व-व्यापी, निराकार, कारणरहित परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण और सृष्टि है। सूर्य, चन्द्र, सब दिशाएं, सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त प्राणियों के आत्मा उसी एक सर्वव्यापी परमात्मा के अंश और प्रत्यक्ष रूप हैं। सम्पूर्ण जीवन और सब गुण, कर्तव्य तथा कर्म उसी एक शक्ति के स्वरूप हैं। वही अग्नि है, जिसने सूर्य को ज्वलन्ति बनाया है और उसे

वा रा ग सी ।

ज्ञान क्रमांक..... 1984.....

समिधा के समान जलाता रहता है। उसी से सूर्य हमें उज्ज्वाला और प्रकाश प्रदान करता है। वर्षा स्वयं नहीं होती, अपितु वही मेघों के द्वारा बरसता है। प्राणियों का संयोग होता है और वे बहुगुणित होते हैं; परन्तु उनके द्वारा बहुगुणित होनेवाला एकमात्र वही है।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैव भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥६॥ पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

(२—१)—६-१०

—पर्वत और समुद्र, नदियां, वृक्ष, औषधियां और उनके प्राण-पोषक तत्व—सब उससे ही उत्पन्न हुए हैं। सोम्य ! जो हृदय में निवास करनेवाले उस परम पुरुष को जानता है, वह अपने को बन्धन में डालनेवाली सब अज्ञान-ग्रंथियां खोल लेने में समर्थ होता है।

आविः संनिहितं गुहाचरन्नाम, महत्पदमत्रैतत्सर्नपितम् । एजत्प्राणान्निमिषच्च, यदेतञ्जानथ सदसद्वरेण्यं, परं विज्ञानाद्यद्विष्टं प्रजानाम् ॥१॥

(२—२)—१

—वह साकार बन गया है और सन्निकट, अपितु तुम्हारे हृदय की गुहा में ही निवास करता है। प्रत्येक वस्तु, जो गतिशील है, प्राणमय है और दीप्तिमान है, उसीमें गतिशील और उसीमें प्रतिष्ठित है। समस्त सत् और सब कल्पनाएं—वह भी जिन्हें मन असम्भव मानता है—उसके ही अस्तित्व से उत्पन्न होती हैं।

धनुर्गृहीत्वोपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिश्चितं संदधीत ।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! विद्वि ॥३॥
 प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेदव्यं
 शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥ (२-२)—३-४

—इस परब्रह्म को, समस्त सृष्टि के इस निरपेक्ष आधार
 को जानने के लिए मन उस पर वैसा ही एकाग्र होना चाहिए,
 जैसे कि धनुर्धारी अपनेलक्ष्य पर एकाग्रचित्त होता है। उप-
 निषद्, अर्थात् गुरु से प्राप्त ज्ञान, धनुष हैं। ज्ञानी आत्मा को
 भक्ति से तीक्ष्ण करके बाण समान उस पर चढ़ाओ। ब्रह्म को
 लक्ष्य बनाकर और एकाग्रचित्त होकर डोरी को भले प्रकार
 खींचकर छोड़ो तो लक्ष्य-वेध हो जायेगा। जिस प्रकार कुशल
 धनुर्धारी लक्ष्य-वेध करते समय अपने बाण को लक्ष्य में पूर्णतः
 लीन कर देता है और दोनों एक ही वस्तु बन जाते हैं, उसी
 प्रकार तुम्हारा आत्मा-रूपी बाण लक्ष्य, अर्थात् ब्रह्म में पूर्णतः
 लीन हो जाय।

जब शिष्य धनुष की डोरी खींच कर लक्ष्य में स्थिर हो
 और गुरु पूछे कि तुम क्या देखते हो, तो शिष्य को कह सकना
 चाहिए कि मैं अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता। उसे
 न धनुष दिखलाई पड़ना चाहिए, न बाण और न ब्रह्म के अति-
 रिक्त कोई भी अन्य वस्तु।

यस्मिन्धोः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च
 सर्वैः । तमेवंकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष
 सेतुः ॥५॥ (२-२)—५

—वही सम्पूर्ण जगत् है। स्वर्ग, पृथ्वी और आकाश, तुम्हारा
 मन और तुम्हारा प्राण-वायु—सब उसी में गुंथे हुए हैं। दूसरा
 सब ज्ञान केवल शब्द-जाल है; उससे बचना चाहिए। वही एक

और एकमात्र सत् है। यह ज्ञान अमरत्व को पहुँचाने वाला सेतु है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ते-
हृदय संनिधाय ॥ तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं-
यद्विभाति ॥७॥ (२—२)—७

—वह हमारे ही हृदयों के अन्दर है। जो सम्पूर्ण जगत् और उसकी महिमा का धारण करनेवाला है, उसने ही मनुष्यों के अन्नमय शरीरों को अपना अविष्ठान बनाया है और वह शरीर तथा प्राण—दोनों पर शासन करता है। स्थितप्रज्ञ आत्मा उसका मनन करता है और उसके परमानन्दमय, अमर स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

मिथ्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥ (२—२)—८

—हमारे अपने शरीरों में ही उसके सान्निध्य और सृष्टि के सब अंगों में उसकी व्यापकता का अनुभव हो जाने पर सब संशय, सब आसक्तियाँ और सब कर्म तिरोहित हो जाते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥९॥ ब्रह्म वेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥ (२—२)—९-११

—उसका साक्षात्कार हो जाने पर वैयक्तिक जीवन का क्या महत्व ? सूर्य और चन्द्र, तारे और मेघों की बिजली भी

क्या ? और इस अग्नि की तो गणना ही कहाँ ? ये सब उस अमर ज्योति के प्रतिबिम्ब-मात्र हैं । वह सब दिशाओं में तथा ऊपर और नीचे भी व्याप्त है । एकमेव वही सत् है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्पनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽजीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं
यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥ यदा
पश्यः पश्यते रश्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा
विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

(३-१)—१-३

—मनुष्य के दुःख तब तक ही रहते हैं, जब तक वह अपने अन्तस् में निवास करनेवाले परम पुरुष के दर्शन नहीं कर लेता । अन्ततः निवासो परम पुरुष और जीवात्मा दो पक्षियों के समान हैं । वे एक-दूसरे के साथ मिले हुए एक ही वृक्ष पर विराजित हैं । एक फल का आस्वादन करता है और दूसरा आनन्दपूर्वक देखता रहता है । एक कर्म में लिप्त रहता है, दूसरा मुक्त है । जब मनुष्य विश्व-नियंता का अपने अन्तस् में दर्शन कर लेता है; तब सद् और असद् का भेद मिट जाता है । वह मनोविकारों से मुक्त हो जाता है; अर्थात्, विश्व-व्यापी के साथ उसका सायुज्य हो जाता है ।

मनुष्य अपने अन्दर परमात्मा का दर्शन करने के योग्य कैसे बन सकता है ? केवल ज्ञान से वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । उसके लिए अनुभव करने की आवश्यकता है कि, प्रभु सब में जीवित रहनेवाला प्राण और उनमें दीप्त प्रकाश है यह अनुभव

कर लेने पर मनुष्य बाह्य वस्तुओं का आश्रय छोड़ देता है और अपने-आपमें परमानन्द की उपलब्धि करता है ।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विमाति, विजानन्विद्वान्मवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

(३—१)—४

—जो मनुष्य अनुभव कर लेता है कि “परमप्राण ही सब प्राणों में और उनके द्वारा दीप्त रहता है,” वह अपने शब्दों का अपव्यय नहीं करता । तब उसका आनन्द और प्रेम—सभी आत्मा में ही रम जाता है, वह दार्शनिकों में सबसे ज्ञानी बन जाता है ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्म-चर्येण नित्यम् । अंतः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(३—१)—५

—सत्य, तप, ज्ञान और पवित्रता अन्तः-स्थित ब्रह्म के दर्शन के लिए आवश्यक गुण हैं । दर्शन हो जाने पर ब्रह्म मनुष्य के अन्तस् में प्रज्वलित दीपक के तुल्य देदीप्यमान हो जाता है ।

सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

(३—१)—६

—सत्य की ही सदा विजय होती है, असत्य की नहीं । सत्य से ही दिव्यता का मार्ग पुष्ट हुआ है । तृष्णाओं से मुक्त हुए ऋषिगण सत्य के परम निधान को प्राप्त करने के लिए उसी मार्ग पर चलते हैं ।

सत्य ही परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है और ज्ञानी उसे प्राप्त करने के लिए इसी का अवलम्बन करते हैं ।

सत्य का यह दृढ़ आलम्बन उपनिषदों की प्रधान विशेषता है।

प्रभु इन्द्रियों से नहीं, वरन् केवल मन से जाना जा सकता है, जिसमें कि सब इन्द्रियों को समेट लिया गया हो। समस्त विचार इन्द्रियों के साथ गुंथा हुआ रहता है। मन को इससे मुक्त करके पूर्ण शान्ति की अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही प्रभु प्रत्यक्ष होता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्येदेवेतत्पसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश । प्राणंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विमवत्येष आत्मा ॥९॥ (३—१)—८-९

—नेत्रों से, वाणी से अथवा अन्य इन्द्रियों से वह जाना नहीं जा सकता। तपस्या और कर्मकाण्ड से भी उसे जानना सम्भव नहीं है। जिसका मन पवित्र और शान्त है, वह ध्यान के द्वारा उस अद्वैत परमेश्वर का दर्शन कर सकता है। अन्तस् में निवास करनेवाले सूक्ष्म पुरुष का, जिसमें पञ्चधा-प्राण प्रविष्ट है, साक्षात्कार ज्ञान से हो सकता है। यदि इन्द्रियों से व्याप्त ज्ञान शुद्ध कर लिया जाये, तो परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ (३—२)—३

—यह कठोपनिषद् में कहा गया है और इस उपनिषद् में पुनः दुहराया गया है।

बहुत विद्वता या विद्वतापूर्ण प्रवचन अथवा बुद्धि-बल से अन्तःस्थित आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

जो आत्मा अपने साक्षात्कार के लिए व्याकुल रहता है वह अवश्य साक्षात्कार करता है ।

साक्षात्कार की उत्कंठा स्वयमेव अन्य तृष्णाओं और आसक्तियों को नष्ट कर देती है और मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के योग्य बनाती है ।

दुर्बल मन वाले मनुष्य, जो सुनिर्दिष्ट ध्यान और मन तथा इन्द्रियों के नियंत्रण द्वारा सच्चा प्रयत्न नहीं करते, अन्तःस्थित आत्मा के साक्षात्कार की आशा नहीं कर सकते । साक्षात्कार की इच्छा और कठिन प्रयत्न आवश्यक है । निम्नलिखित श्लोक में “बलम्” आत्म-निग्रह तथा दृढ़ साधना में प्रयुक्त शक्ति और प्रयत्न के लिए आया है ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपतो वाय्व-
लिङ्गात् । एतैरुपाधैर्यतते यस्तु विद्वांस्तत्स्वेष आत्मा विशते
ब्रह्मधाम ॥ (३-२)—४

—जिस मनुष्य का आत्मा बलवान और सावधान नहीं है वह परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता । भक्तिरहित तप से भी वह सम्भव नहीं है । परन्तु यदि कोई मनुष्य ज्ञान के साथ इन उपादानों की सहायता से प्रयत्न करता है तो उसका आत्मा ब्रह्मधाम को प्राप्त करता है ।

वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्थः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-
सत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकालेपरामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे

विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुष्वमुपैति
दिव्यम् ॥८॥ (३—२)—६, ८

—ज्ञान और अनुशासन परस्पर पूरक हैं । हम जिसकी खोज करते हैं, वेदान्त उसकी सच्ची प्रकृति का स्पष्टीकरण करता है । योग् अर्थात् अनासक्ति और आत्म-अनुशासन से मन पवित्र होता तथा सत्य का दर्शन करने में समर्थ बनता है । जिनका ज्ञान इस प्रकार प्रकाशमान और पवित्र हो गया है वे विश्व-व्यापी पुरुष के साथ सायुज्य प्राप्त करते हैं । वे परमात्मा में मिलते और उसमें विलीन हो जाते हैं, जैसे कि सब नदियां महासमुद्र में मिलती और उसमें विलीन हो जाती हैं ।

यहां हमारी यह छोटी सी पुस्तिका समाप्त होती है । ऋषियों को नमस्कार !

नमः परम ऋषिभ्यो । नमः परम ऋषिभ्यः ।

□□

निर्देशिका उद्धृत श्लोक

अग्निमूर्धा चक्षुषी	५१	ईशावास्यमिदं सर्वं	२४
अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो	१६	एको देवः सर्वभूतेषु गूढः	४०
अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा	२३	एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं	१२
अणोरणीयान्	१७	एष देवो विश्वकर्मा	३८
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे	५२	ऐषोऽणुरात्मा चेतसा	५७
अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा	४३	कुर्वन्नेवेह कर्माणि	२४
अथ वायुमन्नं वन्यायवे	३३	तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्	३२
अथेन्द्रमश्वं वन्	३४	तदभ्यद्रवत्, मभ्यवदत्	३३
अनुपश्य यथा पूर्वं	१०	तदेतत्सत्यं यथा	५१
अन्धं तमः प्रविशन्ति	२५	तदेवाग्निस्तदादित्यः	३८
अन्नं बहु कुर्वीत	४४	तदेतदिति म न्यन्ते	२१
अन्नं न परिचक्षीत	४४	तदेजति तन्नजति	२७
अन्नं न निन्द्यात्	४४	तस्मादग्निः समिधो	५१
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्	४४	तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्च	४७
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव	१४	तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यम्	३३
अरण्योर्निहितो जातवेदा	१६	तस्मै स होवाच	४६
अविद्यायामन्तरे	१५, ५०	तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति	३३
अशरीरं शरीरेष्वन्	१८	तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति	३४
आत्मानं रथिनं विद्धि	१८	त्वं स्त्री त्वं पुमानसि	३८
आदिः संनिहितं	५२	तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः	४६
इन्द्रियाणि ह्यानाहुः	१८	तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः	३७
तेऽग्निमश्वदन्जातवेद	३२	परां च खानि	१६
तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं	१५	प्लवा ह्येते	५०
तं होवाच	४६	प्रणवो घनुः	५३

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	५५	प्रतिबोध विदितं	३१
देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल	११	प्राणोह्येष यः	५६
देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा	११	पुरुष एवेदं	५२
देवपितृकार्याभ्याम्	४२	पूर्णमदः पूर्णमिदं	२६
यनुर्गृहीस्वोपनिषदं	५२	पूषन्नेकर्षे	२८
न कंचन वसतौ	४४	बहूनामेमि प्रथमो	१०
न चक्षुषा गृह्यते	५७	ब्रह्म वेदममृतं	५४
न जायते त्रियते वा	१७	भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम	४६
न तत्र सूर्यो भाति	२१, ५४	भिद्यते हृदयग्रन्थिः	५४
नमः परम ऋषिभ्यो	५६	मनसैवेदमाप्तव्यं	२०
न वित्तेन तर्पणीयो	१३	य एकोऽवर्णो	३८
न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं	४६	यच्चक्षुषा न पश्यति	२६
न संदृशो तिष्ठति रूपमस्य	३६	यच्छ्रोत्रेण न शृणोति	२६
नायमात्मा बलहीनेन	५८	यत्प्राणेन न प्राणिति	२६
नायमात्मा प्रवचनेन	१६, ५७	यथा विलीनमेव	४७
नाविरतो	१६	यथा सोम्य पुरुषं	४७
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं	४०	यथा नद्यः	५८
नीलः पतंगो हरितो	३८	यथोदकं दुर्गो वृष्टं	२०
पराचः कामाननुयन्ति	१६	यथोदकं शुद्धे	२०
परीक्ष्य लोकान्	५०	यदाचर्मवदाकाशं	४०
यदा पश्यः पश्यते	५५	वेदमनुच्याचार्यो	४२
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते	२२	वेदान्त विज्ञान	५८
यदिमन्यसे सुवेदेति	३०	वेदान्ते परमं गुह्यं	४१
यदेवेह तदमुत्र	२०	शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व	१२
यन्मनसा न मनुते	२६	श्रद्धत्स्व सोम्येति	४६
यस्तु सर्वाणि	२७	श्रद्धया देयम्	४३
यस्मिन् सर्वाणि	२७	श्रेयश्च प्रेयश्च	१४
यस्यामतं तस्य	३०	द्वोभावा मर्त्यस्य	१३

यस्मिन्धोः	५३	सत्येन लभ्यस्तपसा	५६
यस्यामतं तस्य	३०	सत्यमेव जयते नानृतम्	५६
यस्त्वविज्ञानवान्	१८	समाने वृक्षे पुरुषो	५५
ये ये कामा दुर्लभा	१२	स्वदेहमरणिं कृत्वा	३७
यः सर्वज्ञः	५४	स्वभावमेको	३६
लवणमेतदुदके	४७	स य एषोणिमैतत्	४७
बह्नेर्यथा	३६	संयुक्तमेतत्कारमकारं च	३५
वायुरनिलममृतमथेदं	२८	हृत्वा चेत्प्रज्यते हन्तुम्	१७
विद्यां चाविद्यां च	३५	अक्षरं हृत्वा नो मृतांति स विद्यालयः	३५
विज्ञानसारथिर्यस्तु	१८		

प्रन्था ३४
क्रमांक ५०३

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय

वा रा ग सी । १९८५

आगत क्रमांक

दिनांक

11/25 21 11/25 21



‘मंडल’ का धर्म-अध्यात्म साहित्य

□

- गीतामाता
- अनासक्ति योग]
- गीता-बोध
- गीता-पदार्थ कोश
- गीता की महिमा
- भागवत कथा
- संत सुधासार
- भगवद्गीता
- भगवान हमारा मित्र
- रामकृष्ण उपनिषद्
- विष्णु सहस्रनाम
- गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे
- कबीर साहब की सुबोध साखियां
- रहीम के सुबोध दोहे
- गिरधर की सुबोध कुण्डलियां
- बुद्ध-वाणी
- आत्मचिन्तन
- भज गोविन्दम् स्तोत्र
- वेदान्त
- उपनिषद्

□□

